ग्रन्थमाला, जामनगर, वि०सं० १९९७ ५
६५. धवला, पुस्तक १३ पृ० ७०
६७. योगसार, योगीन्दु देव, प्रका०- परमश्रुत प्रमावक मंडल बम्बई, १९३७; ९८
६८. ज्ञानसार, पद्मसिंह, टीका० त्रिलोकचन्द्र, मू०कि० कापडिया, दिगम्बर जैन पुस्तकालय, सूरत, वी०सं० २४२०; १८-२८
६९. द्रव्यसंग्रह (नेमीचन्द्र) ४८-५४ टीका ब्रह्मदव गाथा ४८ की टीका
७०. पदस्थ मंत्रवाक्यस्थ- वही गाथा ४८ की टीका
७१. श्रावकाचार (अमितगति) परिच्छेद १५
७२. ज्ञानार्णव (शुभचन्द्र) संपा०- पं० बालचन्द्र शास्त्री, जैन संस्कृति संघ, सोलापुर, १९७७ सर्ग ३२-४०
७३. स्थानांगसूत्र संपा०- मधुकर मुनि प्रका०- श्री आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर, १९८१ ४/६०-४०
७४. वही, ४/६२
७५. वही, ४/६३
७६. वही,४/६४
७७. वही, ४/६५
७८. वही, ४/६६
७९. वही, ४/६७
८०. वही, ४/६८
८१. ध्यानशतक जिनभद्र क्षमाश्रमण प्रका०- विनय सुन्दर चरण ग्रन्थमाला, जामनगर, वि०सं० १९९७ ६३
८२. योगशास्त्र संपा० मुनि समदर्शी, प्रका०- सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा, १९६३ ७/२-६
८३. स्थानांग सूत्र, संपा०- मधुकर मुनि, प्रका०- श्री आगम प्रकाशन समिति, व्यावर, १९८१ ४/६९
८४. वही, ४/७०
८५. वही, ४/७१
८६. वही, ४/७२
८७. तत्त्वार्थसूत्र विवे० पं० सुखलाल संघवी, प्रका०- पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी, १९७६ ९/३६-४०
८८. आचारांग सूत्र, संपा० मधुकर मुनि, प्रका०- श्री आगम प्रकाशन समिति, व्यावर १९८० १/९/१/६, १/९/२/४, १/९/२/१२
८९. वही, १/९/१/५
९०. उत्तराध्ययन सूत्र, संपा०- साध्वी चन्दना, प्रका० वीरायतन प्रकाशन आगरा, १९७२ २६/१८
९१. आवश्यकचूर्णि भाग २ पृ० १८८७
९२. वही, भाग १ पृ० ४१०
९३. आचारांग (आचार्य तुलसी) जैन विश्वभारती, लाडनूं १/२/५/१२५
९४. वही, १/२/३/७३, १/२/६/१८५
९६. देखें- Prakrit Proper Names Ed.- Pt. Dalsukha Malvania, Pub.- L.D. Institute, Ahamadabad, 1972 Vol II Page 626.

तन्त्र-साधना और जैन जीवन दृष्टि

'तन्त्र' शब्द का अर्थ

जैन धर्म-दर्शन और साधना-पद्धति में तांत्रिक साधना के कौन-कौन से तत्त्व किस-किस रूप में उपस्थिति हैं, यह समझने के लिए सर्वप्रथम तंत्र शब्द के अर्थ को समझना आवश्यक है। विद्वानों ने तंत्र शब्द की व्याख्याएँ और परिभाषाएँ अनेक प्रकार से की हैं। उनमें से कुछ परिभाषाएँ व्युत्पत्तिपरक हैं और कुछ रूढ़ार्थक। व्युत्पत्ति की दृष्टि से तन्त्र शब्द 'तन्'+ 'त्र' से बना है। 'तन्' धातु विस्तृत होने या व्यापक होने की सूचक है और 'त्र' त्राण देने या संरक्षण करने का सूचक है। इस प्रकार जो आत्मा को व्यापकता प्रदान करता है और उसकी रक्षा करता है उसे तन्त्र कहा जाता है। तान्त्रिक ग्रन्थों में 'तन्त्र' शब्द की निम्न व्याख्या उपलब्ध है-

तनोति विपुलानर्थान् तत्त्वमन्त्रसमन्वितान्।
त्राणं च कुरुते यस्मात् तन्त्रमित्यभिधीयते ॥

अर्थात् जो तत्त्व और मन्त्र से समन्वित विभिन्न विषयों के विपुल ज्ञान को प्रदान करता है और उस ज्ञान के द्वारा स्वयं एवं दूसरों की रक्षा करता है, उसे तंत्र कहा जाता है। वस्तुत: तंत्र एक व्यवस्था का सूचक है। जब हम तंत्र शब्द का प्रयोग राजतंत्र, प्रजातंत्र, कुलीनतंत्र आदि के रूप में करते हैं, तब वह किसी प्रशासनिक व्यवस्था का सूचक होता है।

मात्र यही नहीं, अपितु आध्यात्मिक विशुद्धि और आत्म-विशुद्धि के लिए जो विशिष्ट साधना-विधियाँ प्रस्तुत की जाती हैं, उन्हें 'तंत्र' कहा जाता है। इस दृष्टि से 'तंत्र' शब्द एक व्यापक अर्थ का सूचक है और इस आधार पर प्रत्येक साधना-विधि 'तंत्र' कही जा सकती है। वस्तुत: जब हम शैवतंत्र, शाक्ततंत्र, वैष्णवतंत्र, जैनतंत्र या बौद्धतंत्र की बात करते हैं, तो यहाँ तंत्र का अभिप्राय आत्म विशुद्धि या चित्तविशुद्धि की एक विशिष्ट पद्धति से ही होता है। मेरी जानकारी के अनुसार इस दृष्टि से जैन परम्परा में 'तन्त्र' शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग आचार्य हरिभद्र ने अपने ग्रन्थों-पञ्चाशक और ललितविस्तरा (आठवीं शती) में किया है। उन्होंने पञ्चाशक[१] में जिन आगम को और ललितविस्तरा[२] में जैन धर्म के ही एक सम्प्रदाय को 'तंत्र' के नाम से अभिहित किया है। इससे फलित होता है कि लगभग आठवीं शती से जैन परम्परा में 'तंत्र' अभिधान प्रचलित हुआ। यहाँ यह भी ज्ञातव्य है कि प्रस्तुत प्रसंग में आगम को ही तंत्र कहा गया है। आगे चलकर आगम का वाचक तन्त्र शब्द किसी साधनाविधि दार्शनिकविधा का वाचक बन गया। वस्तुत: तंत्र एक दार्शनिक विधा भी है और साधनामार्ग भी।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दार्शनिक विधा के रूप में उसका ज्ञानमीमांसीय एवं तत्त्वमीमांसीय पक्ष तो है ही, किन्तु इसके साथ ही उसकी अपनी एक जीवन दृष्टि भी होती है जिसके आधार पर उसकी साधना के लक्ष्य एवं साधना-विधि का निर्धारण होता है। वस्तुत: किसी भी दर्शन की जीवनदृष्टि ही एक ऐसा तत्त्व है, जो उसकी ज्ञानमीमांसा, तत्त्वमीमांसा एवं साधना विधि को निर्धारित करता है और इन्हीं सबसे मिलकर उसका दर्शन एवं साधनातंत्र बनता है।

व्यावहारिक रूप में वे साधना पद्धतियाँ जो दीक्षा, मंत्र, यंत्र, मुद्रा, ध्यान, कुण्डलिनी शक्ति जागरण आदि के माध्यम से व्यक्ति के पाशविक या वासनात्मक पक्ष का निवारण कर उसका आध्यात्मिक विकास करती है या उसे देवत्व के मार्गपर आगे ले जाती है, तंत्र कही जाती है। किन्तु यह तंत्र का प्रशस्त अर्थ है और अपने इस प्रशस्त अर्थ में जैन धर्म-दर्शन को भी तंत्र कहा जा सकता है, क्योंकि उसकी अपनी एक सुव्यवस्थित, सुनियोजित साधना- विधि है, जिसके माध्यम से व्यक्ति वासनाओं और कषायों से ऊपर उठकर आध्यात्मिक विकास के मार्ग में यात्रा करता है। किन्तु तंत्र के इस प्रशस्त व्युत्पत्तिपरक अर्थ के साथ ही 'तंत्र' शब्द का एक प्रचलित रूढ़ार्थ भी है, जिसमें सांसारिक आकांक्षाओं और विषय-वासनाओं की पूर्ति के लिए मद्य, मांस, मैथुन आदि पंच मकारों का सेवन करते हुए यन्त्र, मंत्र, पूजा, जप, होम, बलि अदि के द्वारा मारण, मोहन, वशीकरण, उच्चाटन, स्तम्भन, विद्वेषण आदि षट्कर्मों की सिद्धि के लिए देवी-देवताओं की उपासना की जाती है और उन्हें प्रसन्न करके अपने अधीन किया जाता है। वस्तुत: इस प्रकार की साधना का लक्ष्य व्यक्ति की लौकिक वासनाओं और वैयक्तिक स्वार्थों की सिद्धि ही होता है। अपने इस प्रचलित रूढ़ार्थ में तंत्र को एक निकृष्ट कोटि की साधना- पद्धति समझा जाता है। इस कोटि की तान्त्रिक साधना बहुप्रचलित रही है, जिससे हिन्दू, बौद्ध और जैन-तीनों ही साधना-विधियों पर उसका प्रभाव भी पड़ा है। फिर भी सिद्धान्तत: ऐसी तान्त्रिक साधना जैनों को कभी मान्य नहीं रही, क्योंकि वह उसकी निवृत्तिप्रधान जीवन दृष्टि और अहिंसा के सिद्धान्त के प्रतिकूल थी। यद्यपि ये निकृष्ट साधनाएं तन्त्र के सम्बन्ध में एक भ्रान्त अवधारणा ही है, फिर भी सामान्यजन तन्त्र के सम्बन्ध में इसी धारणा का शिकार रहा हैं। सामान्यतया जनसाधारण में प्राचीन काल से ही तान्त्रिक साधनाओं का यही रूप अधिक प्रचलित रहा है। ऐतिहासिक एवं साहित्यिक साक्ष्य भी तन्त्र के इसी स्वरूप का समर्थन करते हैं।

भोगमूलक जीवनदृष्टि और वासनोन्मुख तन्त्र की इस जीवनदृष्टि के समर्थन में भी बहुत कुछ कहा गया है। कुलार्णव में कहा गया है कि सामान्यतया जिन वस्तुओं के उपयोग को पतन का कारण माना जाता है उन्हें कौलतन्त्र में महात्मा भैरव ने सिद्धि का साधन बताया है। इसी प्रकार न केवल हिन्दू तांत्रिक साधना में अपितु बौद्ध परम्परा में भी प्रारम्भ से ही कठोर साधनाओं के द्वारा आत्मपीड़न की प्रवृत्तियों को उचित नहीं माना गया। भगवान् बुद्ध ने मध्यममार्ग के रूप में जैविक मूल्यों की पूर्ति हेतु भोगमय जीवन का भी जो आंशिक समर्थन किया था, वही आगे चलकर बौद्ध धर्म में वज्रयान के रूप में तांत्रिक भोगमूलक जीवनदृष्टि के विकास का कारण बना और उसमें भी निवृत्तिमय जीवन के प्रति विरोध के स्वर मुखरित हुए। चाहे बुद्ध की मूलभूत जीवनदृष्टि निवृत्तिमार्गी रही हो, किन्तु उनके मध्यममार्ग के आधार पर ही परवर्ती बौद्ध आचार्यों ने वज्रयान या सहजयान का विकास कर भोगमूलक जीवनदृष्टि को समर्थन देना प्रारम्भ कर दिया। गुह्यसमाज तन्त्र में कहा गया है[३]

सर्वकामोपभोगैश्च सेव्यमानैर्यथेच्छत: ।
अनेन खलु योगेन लघु बुद्धत्वमाप्नुयात् ।।
दुष्करैर्नियमैस्तीव्रै: सेव्यमानो न सिद्धयति ।
सर्वकामोपभोगैस्तु सेवयंश्चाशु सिद्धयति ।।

भोगमूलक जीवनदृष्टि के समर्थकों का तर्क यह है कि कामोपभोगों से विरत जीवन बिताने वाले साधकों में मानसिक क्षोभ उत्पन्न होते होंगे, कामभोगों की ओर उनकी इच्छा दौड़ती होगी और विनय के अनुसार वे उसे दबाते होंगे, परन्तु क्या दमनमात्र से चित्तविक्षोभ सर्वथा चला जाता होगा, दबायी हुई वृत्तियाँ जाग्रतावस्था में न सही, स्वप्नावस्था में तो अवश्य ही चित्त को मथ डालती होंगी। इन प्रमथनशील वृत्तियों को दमन करने से भी दबते न देख, अवश्य ही साधकों ने उन्हें समूल नष्ट करने के लिए संयम की जागरूक अवस्था में थोड़ा अवसर दिया कि वे भोग का भी रस ले लें, ताकि उनका सर्वथा शमन हो जाये और वासनारूप से वे हृदय के भीतर न रह सकें। अनंगवज्र ने कहा है कि चित्तक्षुब्ध होने से कभी भी सिद्धि नहीं हो सकती, अत: इस तरह बरतना चाहिए जिसमें मानसिक क्षोभ उत्पन्न ही न हो[४]-

तथा तथा प्रवर्तेत यथा न क्षुभ्यते मन:।
संक्षुब्धे चित्तरत्ने तु सिद्धिर्नैव कदाचन ।

जब तक चित्त में कामभोगोपलिप्सा है, तब तक चित्त में क्षोभ का उत्पन्न होना स्वाभाविक है। इस प्रकार हम देखते हैं कि न केवल हिन्दू तांत्रिक साधनाओं में अपितु बौद्ध तांत्रिक साधना में भी किसी न किसी रूप में भोगवादी जीवनदृष्टि का समर्थन हुआ है। यद्यपि परवर्तीकाल में विकसित बौद्धों की यह भोगमूलक जीवनदृष्टि भारत में उनके अस्तित्व को ही समाप्त कर देने का कारण बनी, क्योंकि इस भोगमूलक जीवनदृष्टि को अपना लेने पर बौद्ध और हिन्दू परम्परा का अन्तर समाप्त हो गया। दूसरे इसके परिणाम स्वरूप बौद्ध भिक्षुओं में भी एक चारित्रिक पतन आया। फलत: उनके प्रति जन-साधारण की आस्था समाप्त हो गयी और बौद्ध धर्म की अपनी कोई विशिष्टता नहीं बची, फलत: वह अपनी जन्मभूमि से समाप्त हो गया।

जैन धर्म में तन्त्र की भोगमूलक जीवनदृष्टि का निषेध

तन्त्र की इस भोगवादी जीवनदृष्टि के प्रति जैन आचार्यों का दृष्टिकोण सदैव निषेधपरक ही रहा है। वैयक्तिक भौतिक हितों एवं वासनाओं की पूर्ति के निमित्त धन, सम्पत्ति, सन्तान आदि की प्राप्ति हेतु अथवा कामवासना की पूर्ति हेतु अथवा शत्रु के विनाश के लिए की जाने वाली साधनाओं के निर्देश तो जैन आगमों में उपलब्ध हो जाते हैं, जिससे यह सिद्ध होता है कि इस प्रकार की तांत्रिक साधनाएं प्राचीन काल में भी प्रचलित थीं, किन्तु प्राचीन जैन आचार्यों ने इसे सदैव हेय दृष्टि से देखा था और साधक के लिए ऐसी तांत्रिक साधनाओं का सर्वथा निषेध किया था।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सूत्रकृताङ्गसूत्र[५] में चौंसठ प्रकार की विद्याओं के अध्ययन या साधना करने वालों के निर्देश तो हैं, किन्तु उसमें इन विद्याओं को पापाश्रुत-अध्ययन कहा गया है। मात्र यह नहीं उसमें स्पष्ट रूप से यही भी कहा गया है कि जो इन विद्याओं की साधना करता है वह अनार्य है, विप्रतिपन्न है और समय आने पर मृत्यु को प्राप्त करके आसुरी और किल्विषिक योनियों को प्राप्त होता है।

पुन: उत्तराध्ययनसूत्र[६] में कहा गया है कि जो छिद्रविद्या, स्वरविद्या, स्वप्नलक्षण, अंगविद्या आदि के द्वारा जीवन जीता है वह भिक्षु नहीं है। इसी प्रकार दशवैकालिकसूत्र[७] में भी स्पष्ट रूप से यह कहा गया है कि मुनि नक्षत्रविद्या, स्वप्नविद्या, निमित्तविद्या, मन्त्रविद्या और भैषज्यशास्त्र का उपदेश गृहस्थों को न करे। इनसे स्पष्टरूप से यह फलित होता है कि वैयक्तिक वासनाओं और आकांक्षाओं की पूर्ति के लिए विभिन्न प्रकार की विद्याओं की साधना को जैन आचार्यों ने सदैव ही हेय दृष्टि से देखा है।

यहाँ यह भी ज्ञातव्य है कि सांसारिक विषय-वासनाओं की पूर्ति के निमित्त पशुबलि देना, मद्य, मांस, मत्स्य, मैथुन और मुद्राओं का सेवन करना एवं मारण, मोहन, वशीकरण आदि षट्कर्मों की साधना करके अपने क्षुद्र लौकिक स्वार्थों और वासनाओं की पूर्ति करना जैन आचार्यों को मान्य नहीं हो सका, क्योंकि यह उनकी निवृत्तिप्रधान अहिंसक जीवनदृष्टि के विरुद्ध था। किन्तु इसका अर्थ यह भी नहीं है कि जैन धर्म ऐसी तान्त्रिक साधनाओं से पूर्णत: असंपृक्त रहा है। प्रथमत: विषय-वासनाओं के प्रहाण के लिए अर्थात् अपने में निहित पाशविक वृत्तियों के निराकरण के लिए मंत्र, जाप, पूजा, ध्यान आदि की साधना-विधियाँ जैन धर्म में ईस्वी सन् के पूर्व से ही विकसित हो चुकी थीं। मात्र यही नहीं परवर्ती जैनग्रन्थों में तो ऐसे भी अनेक उल्लेख मिलते हैं जहाँ धर्म और संघ की रक्षा के लिए जैन आचार्यों को तांत्रिक और मान्त्रिक प्रयोगों की अनुमति भी दी गई है। किन्तु उनका उद्देश्य लोककल्याण ही रहा है।

मात्र यही नहीं, जहाँ आचारांगसूत्र[८] (ई०पू० पांचवी शती) में शरीर को धुन डालने या सुखा देने की बात कही गई थी, वहीं परवर्ती आगमों और आगमिक व्याख्याओं में शरीर और जैविक मूल्यों के संरक्षण की बात कही गई। स्थानांगसूत्र[९] में अध्ययन एवं संयम के पालन के लिए आहार के द्वारा शरीर के संरक्षण की बात कही गई। मरणसमाधि[१०] में कहा गया है कि उपवास आदि तप उसी सीमा तक करणीय हैं- जब तक मन में किसी प्रकार के अमंगल का चिन्तन न हो, इन्द्रियों की हानि न हो और मन, वचन तथा शरीर की प्रवृत्ति शिथिल न हो। मात्र यही नहीं, जैनाचार्यों ने अपने गुणस्थान सिद्धान्त में कषायों एवं वासनाओं के दमन को भी अनुचित मानते हुए यहाँ तक कह दिया कि उपशम श्रेणी अर्थात् वासनाओं के दमन की प्रक्रिया से आध्यात्मिक विकास की सीढ़ियों पर चढ़ने वाला साधक अनन्त: वहाँ से पतित हो जाता है। फिर भी जैनाचार्यों ने वासनाओं की पूर्ति का कोई मार्ग नहीं खोला। हिन्दू तांत्रिकों एवं वज्रयानी बौद्धों के विरुद्ध वे यही कहते रहे कि वासनाओं की पूर्ति से वासनाऐं शान्त नहीं होती हैं, अपितु वे घृत सिञ्चित अग्नि की तरह अधिक बढ़ती ही हैं। उनकी दृष्टि में वासनाओं का दमन तो अनुचित है, किन्तु उनका विवेकपूर्वक संयमन और निरसन आवश्यक है। यहाँ इस सम्बन्ध में विस्तृत चर्चा करने के पूर्व यह विचार कर लेना आवश्यक है कि सामान्यत: भारतीय धर्मों में और विशेषरूप से जैन धर्म में तान्त्रिक साधना का विकास क्यों हुआ और किस क्रम में हुआ?

प्रवर्तक एवं निवर्तक धर्मों का विकास

यह एक सुनिश्चित तथ्य है कि मानव प्रकृति में वासना और विवेक के तत्त्व उसके अस्तित्त्व काल से ही रहे हैं, पुन: यह भी एक सर्वमान्य तथ्य है कि पाशविक वासनाओं, अर्थात् पशु तत्त्व से ऊपर उठकर देवत्व की ओर अभिगमन करना ही मनुष्य के जीवन का मूलभूत लक्ष्य है। मानव प्रकृति में निहित इन दोनों तत्त्वों के आधार पर दो प्रकार की साधना पद्धतियों का विकास कैसे हुआ इसे निम्न सारिणी द्वारा समझा जा सकता है-

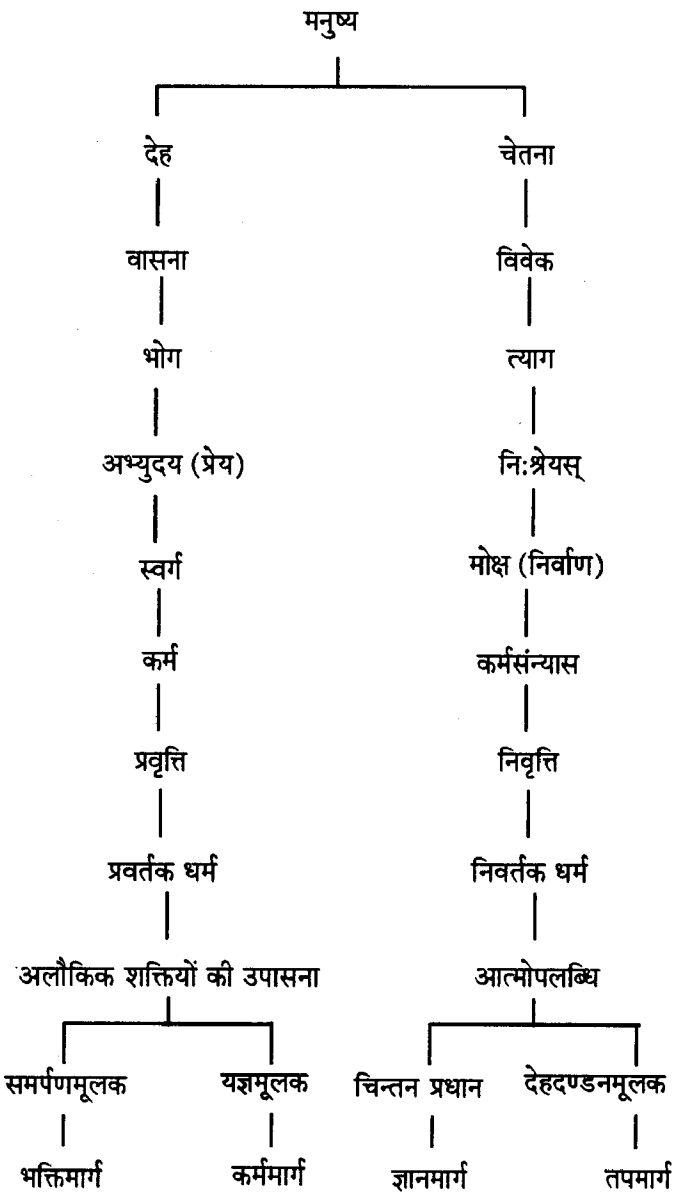

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

निवर्तक एवं प्रवर्तक धर्मों के दार्शनिक एवं सांस्कृतिक प्रदेय

प्रवर्तक और निवर्तक धर्मों का विकास भिन्न-भिन्न मनोवैज्ञानिक आधारों पर हुआ था, अत: यह स्वाभाविक था कि उनके दार्शनिक एवं सांस्कृतिक प्रदेय भिन्न-भिन्न हों। प्रवर्तक एवं निवर्तक धर्मों के इन प्रदेयों और उनके आधार पर उनमें रही हुई पारस्परिक भिन्नता को निम्न सारिणी से स्पष्टतया समझा जा सकता है-

प्रवर्तक धर्म (दार्शनिक प्रदेय)	निवर्तक धर्म (दार्शनिक प्रदेय)
१. जैविक मूल्यों की प्रधानता	१. आध्यात्मिक मूल्यों की प्रधानता
२. विधायक जीवनदृष्टि	२. निषेधक जीवनदृष्टि
३. समष्टिवादी	३. व्यष्टिवादी
४. व्यवहार में कर्म पर बल फिर भी दैवीय कृपा के आकांक्षी होने से भाग्यवाद एवं नियतिवाद का समर्थन	४. व्यवहार में नैष्कर्म्यता का समर्थन फिर भी तपस्या पर बल देने से दृष्टि पुरुषार्थवादी
५. ईश्वरवादी	५. अनीश्वरवादी
६. ईश्वरीय कृपा पर विश्वास	६. वैयक्तिक प्रयासों पर विश्वास, कर्मसिद्धान्त का समर्थन
७ साधना के बाह्य साधनों पर बल	७. आन्तरिक विशुद्धता पर बल
८. जीवन का लक्ष्य स्वर्ग एवं ईश्वर के सान्निध्य की प्राप्ति।	८. जीवन का लक्ष्य मोक्ष एवं निर्वाण की प्राप्ति
(सांस्कृतिक प्रदेय)	**(सांस्कृतिक प्रदेय)**
९. वर्ण व्यवस्था और जातिवाद का जन्मना आधार पर समर्थन	९. जातिवाद का विरोध, वर्णव्यवस्था का केवल कर्मणा आधार पर समर्थन
१०. गृहस्थ जीवन की प्रधानता	१०. संन्यास की प्रधानता
११. सामाजिक जीवन-शैली	११. एकाकी जीवन-शैली
१२. राजतन्त्र का समर्थन	१२. जनतन्त्र का समर्थन

प्रवर्तक धर्मों में प्रारम्भ में जैविक मूल्यों की प्रधानता रही, वेदों में जैविक आवश्यकताओं की पूर्ति से सम्बन्धित प्रार्थनाओं के स्वर अधिक मुखरित हुए हैं। उदाहरणार्थ- हम सौ वर्ष जीवें, हमारी सन्तान बलिष्ठ होवें, हमारी गायें अधिक दूध देवें, वनस्पतियाँ प्रचुर मात्रा में हों आदि। इसके विपरीत निवर्तक धर्म ने जैविक मूल्यों के प्रति एक निषेधात्मक रुख अपनाया, उन्होंने सांसारिक जीवन की दु:खमयता का राग अलापा। उनकी दृष्टि में शरीर आत्मा का बन्धन है और संसार दु:खों का सागर। उन्होंने संसार और शरीर दोनों से ही मुक्ति को जीवन-लक्ष्य माना। उनकी दृष्टि में दैहिक आवश्यकताओं का निषेध, अनासक्ति, विराग और आत्मसन्तोष ही सर्वोच्च जीवन मूल्य हैं।

एक ओर जैविक मूल्यों की प्रधानता का परिणाम यह हुआ कि प्रवर्तक धर्म में जीवन के प्रति एक विधायक दृष्टि का निर्माण हुआ तथा जीवन को सर्वतोभावेन वाञ्छनीय और रक्षणीय माना गया; तो दूसरी ओर जैविक मूल्यों के निषेध से जीवन के प्रति एक ऐसी निषेधात्मक दृष्टि का विकास हुआ जिसमें शारीरिक माँगों को ठुकराना ही जीवन लक्ष्य मान लिया गया और देह-दण्डन ही तप-त्याग और अध्यात्म के प्रतीक बन गये। यद्यपि इन दोनों साधना- पद्धतियों का मूलभूत लक्ष्य तो चैतसिक और सामाजिक स्तर पर शांति ही स्थापना की रहा है किन्तु उसके लिए उनकी व्यवस्था या साधना-विधि भिन्न-भिन्न रही है। प्रवृत्तिमार्गी परम्परा का मूलभूत लक्ष्य यही रहा है कि स्वयं के प्रयत्न एवं पुरुषार्थ से अथवा उनके असफल होने पर दैवीय शक्तियों के सहयोग से जैविक आवश्यकताओं एवं वासनाओं की पूर्ति करके चैतसिक शांति का अनुभव किया जाय। दूसरी ओर निवृत्तिमार्गी परम्पराओं ने वासनाओं की सन्तुष्टि को विवेक की उपलब्धि के मार्ग में बाधक समझा और वासनाओं के दमन के माध्यम से वासनाजन्य तनावों का निराकरण कर चैतसिक शांति या समाधि को प्राप्त करने का प्रयास किया। जहाँ प्रारम्भिक वैदिक धर्म प्रवृत्तिप्रधान रहा वहीं प्रारम्भिक श्रमण परम्पराएँ निवृत्तिप्रधान रहीं। किन्तु एक ओर वासनाओं की सन्तुष्टि के प्रयास में चित्तशांति या समाधि सम्भव नहीं हो सकी, क्योंकि नई-नई इच्छाएँ आकांक्षाएँ और वासनाएँ जन्म लेती रहीं; तो दूसरी ओर वासनाओं के दमन के भी चित्तशांति सम्भव न हो सकी, क्योंकि दमित वासनाएँ अपनी पूर्ति के लिए चित्त की समाधि भंग करती रहीं। इसका विपरीत परिणाम यह हुआ कि एक ओर प्रवृत्तिमार्गी परम्परा में व्यक्ति ने अपनी भौतिक और लौकिक एषणाओं की पूर्ति के लिए दैविक शक्तियों की सहायता पाने हेतु कर्मकाण्ड का एक जंजाल खड़ा कर लिया तो दूसरी ओर वासनाओं के दमन के लिए देहदण्डनरूपी तप साधनाओं का वर्तुल खड़ा हो गया। एक के लिए येन-केन प्रकारेण वैयक्तिक हितों की पूर्ति या वासनाओं की संतुष्टि ही वरेण्य हो गई तो दूसरे के लिए जीवन का निषेध अर्थात् देहदण्डन ही साधना का लक्ष्य बन गया। वस्तुत: इन दोनों अतिवादों के समन्वय के प्रयास में ही एक ओर जैन, बौद्ध आदि विकसित श्रमणिक साधना विधियों का जन्म हुआ तो दूसरी ओर औपनिषदिक् चिन्तन से लेकर सहजभक्तिमार्ग और तंत्र साधना तक का विकास भी इसी के निमित्त से हुआ। 'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा' का जो समन्वयात्मक स्वर औपनिषदिक ऋषियों ने दिया था, परवर्ती समस्त हिन्दू साधना और उसकी तांत्रिक विधियाँ उसी के परिणाम हैं। फिर भी प्रवृत्ति और निवृत्ति के पक्षों का समुचित सन्तुलन स्थिर नहीं रह सका। इनमें किसे प्रमुखता दी जाय, इसे लेकर उनकी साधना-विधियों में अन्तर भी आया।

जैनों ने यद्यपि निवृत्तिप्रधान जीवनदृष्टि का अनुसरण तो किया, किन्तु परवर्ती काल में उसमें प्रवृत्तिमार्ग के तत्त्व समाविष्ट होते गए। न केवल साधना के लिए जीवन रक्षण के प्रयत्नों का औचित्य स्वीकार किया गया, अपितु ऐहिक-भौतिक कल्याण के लिए भी तांत्रिक साधना की जाने लगी।

क्या जैन धर्म जीवन का निषेध सिखाता है?

सामान्यतया यह माना जाता है कि तंत्र की जीवनदृष्टि ऐहिक जीवन को सर्वथा वरेण्य मानती है, जबकि जैनों का जीवनदर्शन निषेधमूलक है। इस आधार पर यह भी कहा जा सकता है कि जैन धर्म-दर्शन तंत्र का विरोधी है, किन्तु जैन दर्शन के सम्बन्ध में यह एक भ्रान्त धारणा ही होगी। जैनों ने मानव जीवन को जीने के योग्य एवं सर्वथा वरेण्य माना है। उनके अनुसार मनुष्य जीवन ही तो एक ऐसा जीवन है जिसके माध्यम से व्यक्ति विमुक्ति के पथ पर आरूढ़ हो सकता है। आध्यात्मिक विकास की यात्रा का प्रारम्भ और उसकी पूर्णता मनुष्य जीवन से ही संभव है। अत: जीवन सर्वतोभावेन रक्षणीय है। उसमें 'शरीर' को संसार समुद्र में तैरने की नौका कहा गया है और नौका की रक्षा करना पार जाने के इच्छुक व्यक्ति का अनिवार्य कर्त्तव्य है। इसी प्रकार उसका अहिंसा का सिद्धान्त भी जीवन की रक्षणीयता पर सर्वाधिक बल देता है।

वह न केवल दूसरों के जीवन के रक्षण की बात करता है अपितु वह स्वयं के जीवन के रक्षण की भी बात करता है। उसके अनुसार स्व की हिंसा दूसरों की हिंसा से भी निकृष्ट है। अत: जीवन चाहे अपना हो या दूसरों का वह सर्वतोभावेन रक्षणीय है। यद्यपि इतना

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अवश्य है कि जैनों की दृष्टि में पाशविक शुद्ध स्वार्थों से परिपूर्ण, मात्र जैविक एषणाओं की पूर्ति में संलग्न जीवन न तो रक्षणीय है, न वरेण्य; किन्तु यह दृष्टि तो तंत्र की भी है, क्योंकि वह भी पशु अर्थात् पाशविक पक्ष का संहार कर पाश से मुक्त होने की बात करता है। जैनों के अनुसार जीवन उस समीप तक वरेण्य और रक्षणीय है जिस सीमा तक वह व्यक्ति के आध्यात्मिक विकास में सहायक होता है और अपने आध्यात्मिक विकास के माध्यम से लोकमंगल का सृजन करता है। प्रशस्त तांत्रिक साधना और जैन साधना दोनों में ही इस सम्बन्ध में सहमति देखी जाती है। वस्तुत: जीवन की एकान्त रूप से वरेण्यता और एकान्त रूप से जीवन का निषेध दोनों ही अवधारणाएँ उचित नहीं है। यही जैनों की जीवनदृष्टि है। वासनात्मक जीवन के निराकरण द्वारा आध्यात्मिक जीवन का विकास-यही तंत्र और जैन दर्शन दोनों की जीवनदृष्टि है और इस अर्थ में वे दोनों विरोधी नहीं हैं, सहगामी हैं।

फिर भी सामान्य अवधारणा यह है कि तन्त्र दर्शन में ऐहिक जीवन को सर्वथा वरेण्य माना गया है। उसकी मान्यता है कि जीवन आनन्दपूर्वक जीने के लिए है। जैन धर्म में तप-त्याग की जो महिमा गायी गई है उसके आधार पर यह भ्रान्ति फैलाई जाती है कि जैन धर्म जीवन का निषेध सिखाता है। अत: यहां इस भ्रान्ति का निराकरण कर देना अप्रासंगिक नहीं होगा कि जैन धर्म के तप-त्याग का अर्थ शारीरिक एवं भौतिक जीवन की अस्वीकृति नहीं है। आध्यात्मिक मूल्यों की स्वीकृति का यह तात्पर्य नहीं है कि शारीरिक एवं भौतिक मूल्यों की पूर्णतया उपेक्षा की जाय। जैन धर्म के अनुसार शारीरिक मूल्य अध्यात्म के बाधक नहीं, साधक हैं। निशीथभाष्य[१२] में कहा है कि मोक्ष का साधन ज्ञान है, ज्ञान का साधन शरीर है, शरीर का आधार आहार है। शरीर शाश्वत आनन्द के कूल में ले जाने वाली नौका है। इस दृष्टि से उसका मूल्य भी है, महत्त्व भी है और उसकी सार-संभाल भी करना है। किन्तु ध्यान रहे, दृष्टि नौका पर नहीं कूल पर होनी चाहिए, क्योंकि नौका साधन है, साध्य नहीं। भौतिक एवं शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति की एक साधना के रूप में स्वीकृति जैनधर्म और सम्पूर्ण अध्यात्म विद्या का हार्द है। यह वह विभाजन रेखा है जो आध्यात्मवाद और भौतिकवाद में अन्तर करती है। भौतिकवाद में उपलब्धियाँ या जैविक मूल्य स्वयमेव साध्य हैं, अन्तिम हैं, जबकि अध्यात्म में वे किन्हीं उच्च मूल्यों के साधन हैं। जैनधर्म की भाषा में कहें तो साधक के द्वारा वस्तुओं का त्याग और ग्रहण, दोनों ही साधना के लिए हैं।

जैनधर्म की सम्पूर्ण साधना का मूल लक्ष्य और एक ऐसे निराकुल, निर्विकार, निष्काम और वीतराग मानस की अभिव्यक्त है जो वैयक्तिक एवं सामाजिक जीवन के समस्त तनावों एवं संघर्षों को समाप्त कर सके। उसके सामने मूल प्रश्न दैहिक एवं भौतिक मूल्यों की स्वीकृति का नहीं है, अपितु वैयक्तिक और सामाजिक जीवन में शान्ति की संस्थापना है। अत: जहाँ तक और जिस रूप में दैहिक और भौतिक उपलब्धियाँ उसमें साधक हो सकती हैं, वहाँ तक वे स्वीकार्य हैं और जहाँ तक उसमें बाधक हैं, वहीं तक त्याज्य हैं। भगवान महावीर ने आचारांगसूत्र[१३] एवं उत्तराध्ययनसूत्र[१४] में इस बात को बहुत ही स्पष्टता के साथ प्रस्तुत किया है। वे कहते हैं कि जब इन्द्रियों का अपने विषयों से सम्पर्क होता है, तब उसे सम्पर्क के परिणामस्वरूप सुखद-दु:खद अनुभूति भी होती है और जीवन में यह शक्य नहीं है कि इन्द्रियों का अपने विषयों से सम्पर्क न हो और उसके कारण सुखद या दु:खद अनुभूति न हो, अत: त्याग इन्द्रियानुभूति का नहीं, अपितु उसके प्रति चित्त में उत्पन्न होने वाले राग-द्वेष का करना है, क्योंकि इन्द्रियों के मनोज्ञ का अमनोज्ञ विषय आसक्तचित्त के लिए ही राग-द्वेष (मानसिक विक्षोभो) का कारण बनते हैं, अनासक्त का वीतराग के लिए नहीं। अत: जैनधर्म की मूल शिक्षा ममत्व के विसर्जन की है, जीवन के निषेध की नहीं।

जैन तांत्रिक साधना और लोक कल्याण का प्रश्न

तांत्रिक साधना का लक्ष्य आत्मविशुद्धि के साथ लोक कल्याण भी है। यह सत्य है कि जैन धर्म मूलत: संन्यासमार्गी धर्म है। उसकी साधना में आत्मशुद्धि और आत्मोपलब्धि पर ही अधिक जोर दिया गया है, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि जैन धर्म में लोकमंगल या लोककल्याण का कोई स्थान ही नहीं है। जैन धर्म यह तो अवश्य मानता है कि वैयक्तिक साधना की दृष्टि से समाज निरपेक्ष, एकांकी जीवन अधिक ही उपयुक्त है किन्तु इसके साथ ही साथ वह यह भी मानता है कि उस साधना से प्राप्त सिद्धि का उपयोग सामाजिक कल्याण की दिशा में होना चाहिए। महावीर का जीवन स्वयं इस बात का साक्षी है कि १२ वर्षों तक एकाकी साधना करने के पश्चात् वे पुन: सामाजिक जीवन में लौट आये। उन्होंने चतुर्विध संघ की स्थापना की तक्त जीवन भर उसका मार्ग-दर्शन करते रहे।

जैन धर्म सामाजिक कल्याण और सामाजिक सेवा को आवश्यक तो मानता है, किन्तु वह व्यक्ति के चारित्रिक उन्नयन से ही सामाजिक कल्याण की दिशा में आगे बढ़ता है। व्यक्ति समाज की मूलभूत इकाई है, जब तक व्यक्ति का चारित्रिक विकास नहीं होगा, तब तक उसके द्वारा सामाजिक कल्याण नहीं हो सकता है। जब तक व्यक्ति के जीवन में नैतिक और आध्यात्मिक चेतना का विकास नहीं होता तब तक सामाजिक जीवन में सुव्यवस्था और शान्ति की स्थापना नहीं हो सकती। जो व्यक्ति अपने स्वार्थों और वासनाओं पर नियन्त्रण नहीं कर सकता वह कभी सामाजिक हो ही नहीं सकता, क्योंकि समाज जब भी खड़ा होता है वह त्याग और समर्पण के मूल्यों पर ही होता है। लोकसेवक और जनसेवक अपने व्यक्तिगत स्वार्थों और द्वन्द्वों से दूर रहें-यह जैन आचार संहिता का आधारभूत सिद्धान्त है। चरित्रहीन व्यक्ति सामाजिक जीवन के लिए घातक ही सिद्ध होगें। व्यक्तिगत स्वार्थों की पूर्ति के निमित्त जो तांत्रिक साधनाएँ की जाती हैं, वे सामाजिक जीवन के लिए घातक ही होती हैं। क्या चोर, डाकू और शोषकों का संगठन समाज कहलाने का अधिकारी है? क्या चोर, डाकू और लुटेरे अपने उद्देश्य मे सफल होने के लिए देवी-देवताओं को प्रसन्न करने हेतु जो तांत्रिक साधना करते या करवाते हैं, उसे सही अर्थ में साधना कहा जा सकता है? महावीर की शिक्षा का सार यही है कि वैयक्तिक जीवन में निवृत्ति सामाजिक कल्याण का आधार बन सकती है। प्रश्नव्याकरणसूत्र[१५] में कहा गया है कि भगवान् का यह सुकथित प्रवचन संसार के सभी प्राणियों के रक्षण एवं करुणा के लिए है। जैन साधना में अहिंसा, सत्य, स्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह-ये जो पाँच व्रत माने गये हैं, वे केवल वैयक्तिक साधना के लिए नहीं है।

जैन तन्त्र के दार्शनिक आधार

जैन तत्त्व दर्शन के अनुसार जीव कर्मों के आवरण के कारण बन्धन में है। बन्धन से मुक्ति के लिए एक ओर कर्म आवरण का

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

क्षयोपशम आवश्यक है तो दूसरी ओर उस क्षयोपशम के लिए विशिष्ट साधना भी आवश्यक है किन्तु इस साधना के लिए बन्धन और बन्धन के कारणों का ज्ञान आवश्यक है। यह ज्ञान दार्शनिक अध्ययन से ही प्राप्त होता है। आत्मतत्त्व के ज्ञान के बिना साधना अधूरी रहती है। अत: जैन तन्त्र में भी तान्त्रिक साधना के पूर्व तत्त्वमीमांसा और ज्ञानमीमांसा का सम्यक् अनुशीलन आवश्यक है। इस प्रकार जैन तत्त्व साधना में दर्शन को महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है।

अब हम इस तथ्य पर विचार करेंगे कि जैन परम्परा में तांत्रिक साधना के कौन से तत्त्व किन-किन रूपों में उपस्थित हैं? और उनका उद्भव एवं विकास कैसे हुआ?

जैनधर्म में तान्त्रिक साधना का उद्भव एवं विकास

यदि तन्त्र का उद्देश्य वासना-मुक्ति और आत्मविशुद्धि है तो वह जैन धर्म में उसके अस्तित्व के साथ ही जुड़ी हुई है। किन्तु यदि तन्त्र का तात्पर्य व्यक्ति की दैहिक वासनाओं और लौकिक एषणाओं की पूर्ति के लिए किसी देवता-विशिष्ट की साधना कर उसके माध्यम से अलौकिक शक्ति को प्राप्त कर या स्वयं देवता के माध्यम से उन वासनाओं और आकांक्षाओं की पूर्ति करना माना जाय तो प्राचीन जैन धर्म में इसका कोई स्थान नहीं था। इसे हम प्रारम्भ में ही स्पष्ट कर चुके हैं। यद्यपि जैन आगमों में ऐसे अनेकों सन्दर्भ उपलब्ध होते हैं, जिनके अनुसार उस युग में अपनी लौकिक एषणाओं की पूर्ति के लिए किसी देव-देवी या यक्ष-यक्षी की उपासना की जाती थी। अंतगडदसा आदि आगमों में नैगमेषदेव के द्वारा सुलसा और देवकी के छ: सन्तानों के हस्तांतरण की घटना, कृष्ण के द्वारा अपने छोटे भाई की प्राप्ति के लिए तीन दिवसीय उपवास के द्वारा नैगमेष देव की उपासना करना अथवा बहुपुत्रिका देवी की उपासना के द्वारा सन्तान प्राप्त करना आदि अनेक सन्दर्भ मिलते हैं, किन्तु इस प्रकार की उपासनाओं को जैन धर्म की स्वीकृति प्राप्त थी, यह कहना उचित नहीं होगा। प्रारम्भिक जैन धर्म, विशेषरूप से महावीर की परम्परा में तन्त्र-मन्त्र की साधना मुनि के लिए सर्वथा वर्जित ही मानी गई थी। प्राचीन जैन आगमों में इसको न केवल हेय दृष्टि से देखा गया, अपितु इस प्रकार की साधना करने वाले को पापश्रमण या पार्श्वस्थ तक कहा गया है। इस सम्बन्ध में सूत्रकृताङ्गसूत्र, उत्तराध्ययनसूत्र एवं दशवैकालिकसूत्र के सन्दर्भ पूर्व में दिये जा चुके हैं। आगमों में पार्श्वस्थ का तात्पर्य शिथिलाचारी साधु माना जाता है। यद्यपि महावीर की परम्परा ने प्रारम्भ में तन्त्र साधना को कोई स्थान नहीं दिया, किन्तु उनके पूर्ववर्ती पार्श्व (जिनका जन्म इसी वाराणसी नगरी में हुआ था) की परम्परा के साधु अष्टांगनिमित्त शास्त्र का अध्ययन और विद्याओं की साधना करते थे, ऐसे संकेत जैनागमों में मिलते हैं। यही कारण था कि महावीर की परम्परा में पार्श्व की परम्परा के साधुओं को पार्श्वस्थ अर्थात् शिथिलाचारी कहकर हेय दृष्टि से देखा जाता था। प्राकृत में 'पासत्थ' शब्द के तीन अर्थ होते हैं- १. पाशस्थ अर्थात् पाश में बँधा हुआ २. पार्श्वस्थ अर्थात् पार्श्व के संघ में स्थित या ३. पार्श्वस्थ अर्थात् पार्श्व में स्थित संयमी जीवन के समीप रहने वाला।

ज्ञाताधर्मकथासूत्र जैसे अंग- आगम के द्वितीय श्रुतस्कन्ध के प्रथम वर्ग में और आवश्यकनिर्युक्ति, आवश्यकचूर्णि आदि आगमिक व्याख्या ग्रन्थों में ऐसे अनेक सन्दर्भ प्राप्त होते हैं, जिनमें पार्श्वापत्य श्रमणों और श्रमणियों द्वारा अष्टाङ्गनिमित्त एवं मन्त्र-तन्त्र आदि की साधना करने के उल्लेख हैं। आज भी जैन परम्परा में जो तान्त्रिक साधनाएँ की जाती हैं, उनमें आराध्यदेव महावीर न होकर मुख्यत: पार्श्वनाथ अथवा उनकी शासनदेवी पद्मावती ही होतीं। जैन तांत्रिक साधनाओं में पार्श्व और पद्मावती की प्रधानता स्वत: ही इस तथ्य का प्रमाण है कि पार्श्व की परम्परा में तांत्रिक साधना की प्रवृत्ति रही होगी। यह माना जाता है कि पार्श्व की परम्परा के ग्रन्थों, जिन्हें 'पूर्व' के नाम से जाना जाता है, में एक विद्यानुप्रवाद पूर्व भी था। यद्यपि वर्तमान में यह ग्रन्थ अप्राप्त है, किन्तु इसकी विषयवस्तु के सम्बन्ध में जो निर्देश उपलब्ध हैं उनसे इतना तो सिद्ध अवश्य होता है कि इसकी विषयवस्तु में विविध विद्याओं की साधना से सम्बन्धित विशिष्ट प्रक्रियाएँ निहित रही होंगी। न केवल पार्श्व की परम्परा के पूर्व साहित्य में, अपितु महावीर की परम्परा के आगम साहित्य में भी, विशेष रूप से प्रश्नव्याकरणसूत्र में विविध-विद्याओं की साधना सम्बन्धी सामग्री थी, ऐसी टीकाकार अभयदेव आदि की मान्यता है। यही कारण था कि योग्य अधिकारियों के अभाव में उस विद्या को पढ़ने से कोई साधक चरित्र से भ्रष्ट न हो, इसलिए लगभग सातवीं शताब्दी में उसकी विषयवस्तु को ही बदल दिया गया। यह सत्य है कि महावीर की परम्परा में प्रारम्भ में तन्त्र-मन्त्र और विद्याओं की साधनाओं को न केवल वर्जित माना गया था, अपितु इस प्रकार की साधना में लगे हुए लोगों की आसुरी योनियों में उत्पन्न होने वाला भी कहा गया। किन्तु जब पार्श्व की परम्परा का विलय महावीर की परम्परा में हुआ तो पार्श्व की परम्परा के प्रभाव से महावीर की परम्परा के श्रमण भी तांत्रिक परम्पराओं से जुड़े। महावीर के संघ में तान्त्रिक साधनाओं की स्वीकृति इस अर्थ में हुई कि उनके माध्यम से या तो आत्मविशुद्धि की दिशा में आगे बढ़ा जाय अथवा उन्हें सिद्ध करके उनका उपयोग जैन धर्म की प्रभावना या उसके प्रसार के लिए किया जाय।

इस प्रकार महावीर के धर्मसंघ में तन्त्र साधना का प्रवेश जिनशासन की प्रभावना के निमित्त हुआ और परवर्ती अनेक जैनाचार्यों ने जैन धर्म के प्रभावना के लिए तांत्रिक-साधनाओं से प्राप्त शक्ति का प्रयोग भी किया, जैन साहित्य में ऐसे संदर्भ विपुलता से उपलब्ध होते हैं। आज भी श्वेताम्बर मूर्तिपूजक परम्परा में किसी मुनि को आचार्य पद पर प्रतिष्ठित होने के पूर्व सूरिमंत्र और वर्द्धमान विद्या की साधना करनी होती है। मात्र यही नहीं श्वेताम्बर मूर्तिपूजक श्रमण और श्रमणियाँ मन्त्रसिद्ध सुगन्धित वस्तुओं का एक चूर्ण जिसे वासक्षेप कहा जाता है, अपने पास रखते हैं और उपासकों को आशीर्वाद के रूप में प्रदान करते हैं। यह जैन धर्म में तन्त्र के प्रभाव का स्पष्ट प्रमाण है। इसी प्रकार मंत्रसिद्ध रक्षाकवच भी उपासकों को प्रदान किये जाते हैं। न केवल श्वेताम्बर और दिगम्बर भट्टारक परम्परा में अपितु वर्तमान दिगम्बर परम्परा में भी अनेक आचार्य और मुनि विशेषरूप से आचार्य विमलसागर जी की परम्परा के मुनिगण तन्त्र-मन्त्र का प्रयोग करते हुए देखे जाते हैं। लगभग सातवीं शती के अनेक अभिलेखीय एवं साहित्यिक साक्ष्य भी उपलब्ध होते हैं जिनमें जैन-मुनियों द्वारा तन्त्र-मन्त्र के प्रयोग के प्रसंग उपलब्ध हैं। वस्तुत: चैत्यवास के परिणामस्वरूप दिगम्बर सम्प्रदाय में विकसित भट्टारक परम्परा और श्वेताम्बर सम्प्रदाय में विकसित यति परम्परा स्पष्टतया इन तान्त्रिक साधनाओं से सम्बन्धित रही है, यद्यपि आध्यात्मवादी मुनिवर्ग ने इन्हें सदैव ही हेय दृष्टि से देखा है और समय-समय पर इन प्रवृत्तियों की आलोचना भी की है।

वस्तुत: जैन परम्परा में तान्त्रिक साधनाओं का विकास चौथी-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पाँचवीं शताब्दी के पूर्व ही प्रारम्भ हो गया था। कल्पसूत्र पट्टावली में जैन श्रमणों की जो प्राचीन आचार्य परम्परा वर्णित है उसमें विद्याधरकुल का उल्लेख मिलता है। सम्भवत: विद्याधर कुल जैन श्रमणों का वह वर्ग रहा होगा जो विविध विद्याओं की साधना करता होगा। यहाँ विद्या का तात्पर्य बुद्धि नहीं, अपितु देव अधिष्ठित अलौकिक शक्ति की प्राप्ति ही है। प्राचीन जैन साहित्य में हमें जंघाचारी और विद्याचारी, ऐसे दो प्रकार के श्रमणों के उल्लेख प्राप्त होते हैं। यह माना जाता है कि ये मुनि अपनी विशिष्ट साधना द्वारा ऐसी अलौकिक शक्ति प्राप्त कर लेते थे जिसकी सहायता से वे आकाश में गमन करने में समर्थ होते थे।

यह माना जाता है कि आर्य वज्रस्वामी (ईसा की प्रथमशती) ने दुर्भिक्षकाल में पट्टविद्या की सहायता से सम्पूर्ण जैन संघ को सुरक्षित स्थान पर पहुँचाया था। वज्रस्वामी द्वारा किया गया विद्या का यह प्रयोग परवर्ती आचार्यों और साधुओं के लिए एक उदाहरण बन गया। वज्रस्वामी के सन्दर्भ में आवश्यकनिर्युक्ति में स्पष्टरूप से कहा गया है कि उन्होंने अनेक विद्याओं का उद्धार किया था। लगभग दूसरी शताब्दी के मथुरा के एक शिल्पांकन में आकाशमार्ग से गमन करते हुए एक जैन श्रमण को प्रदर्शित भी किया गया है। इससे यही सिद्ध होता है कि ईसा की दूसरी-तीसरी शताब्दी से भी जैनों में अलौकिक सिद्धियों की प्राप्ति हेतु तांत्रिक साधना के प्रति निष्ठा का विकास हो गया था।

वस्तुत: जैन धर्मसंघ में ईसा की चौथी-पाँचवीं शताब्दी से चैत्यवास का आरम्भ हुआ और उसी के परिणामस्वरूप तन्त्र-मन्त्र की साधना को जैन संघ में स्वीकृति भी मिली।

जैन परम्परा में आर्य खपुट, (प्रथम शती), आर्य रोहण (द्वितीय शती), आचार्य नागार्जुन (चतुर्थ शती) यशोभद्रसूरि, मानदेवसूरि, सिद्धसेनदिवाकर (चतुर्थशती), मल्लवादी (पंचमशती) मानतुङ्गसूरि (सातवीं शती), हरिभद्रसूरि (आठवीं शती), बप्पभट्टिसूरि (नवीं शती), सिद्धर्षि (नवीं शती), सूराचार्य (ग्यारहवीं शती), जिनेश्वरसूरि (ग्यारहवीं शती), अभयदेवसूरि (ग्यारहवीं शती) वीराचार्य (ग्यारहवीं शती), जिनदत्तसूरि (बारहवीं शती), वादिदेवसूरि (बारहवीं शती), हेमचन्द्र (बारहवीं शती), आचार्य मलयगिरि (बारहवीं शती), जिनचन्द्रसूरि (बारहवीं शती) पार्श्वदेवगणि (बारहवीं शती), जिनकुशल सूरि (तेरहवीं शती) आदि अनेक आचार्यों का उल्लेख मिलता है, जिन्होंने मन्त्र और विद्याओं की साधना के द्वारा जैन धर्म की प्रभावना की। यद्यपि विविध ग्रंथों, प्रबन्धों और पट्टावलियों में वर्णित इनके कथानकों में कितनी सत्यता है, यह एक भिन्न विषय है, किन्तु जैन साहित्य में जो इनके जीवनवृत्त मिलते हैं वे इतना तो अवश्य सूचित करते हैं कि लगभग चौथी-पाँचवी शताब्दी से जैन आचार्यों का रुझान तांत्रिक साधनाओं की ओर बढ़ा था और वे जैन-धर्म की प्रभावना के निमित्त उसका उपयोग भी करते थे।

मेरी दृष्टि से जैन परम्परा में तांत्रिक साधनाओं का जो उद्भव और विकास हुआ है, वह मुख्यत: दो कारणों से हुआ है-प्रथम तो यह कि जब वैयक्तिक साधना की अपेक्षा संघीय जीवन को प्रधानता दी गई तो संघ की रक्षा और अपने श्रावक भक्तों के भौतिक कल्याण को भी साधना का आवश्यक अंग मान लिया गया। दूसरे तंत्र के बढ़ते हुए प्रभाव के कारण जैन आचार्यों के लिए यह अपरिहार्य हो गया था कि वे मूलत: निवृत्तिमार्गी और आत्मविशुद्धिपरक इस धर्म को जीवित बनाए रखने के लिए तांत्रिक उपासना और साधना-पद्धति को किसी सीमा तक स्वीकार करें, अन्यथा उपासकों का इतर परम्पराओं की ओर आकर्षित होने का भय था।

अध्यात्म के आदर्श की बात करना तो सुखद लगता है किन्तु उन आदर्शों को जीवन में जीना सहज नहीं है। जैन धर्म का उपासक भी वही व्यक्ति है जिसे अपने लौकिक और भौतिक मंगल की आकांक्षा रहती है। जैन धर्म को विशुद्ध रूप से मात्र आध्यात्मिक और निवृत्तिमार्गी बनाए रखने पर भक्तों या उपासकों के एक बड़े भाग से जैन धर्म के विमुख हो जाने की समभावनाएँ थीं। इन परिस्थितियों में जैन आचार्यों की यह विवशता थी कि वे अपने अनुयायियों की श्रद्धा जैन-धर्म में बनी रहे इसके लिए उन्हें यह आवश्वासन दें कि चाहे तीर्थंकर उनके लौकिक-भौतिक कल्याण करने में असमर्थ हों किन्तु उन तीर्थंकरों के शासन रक्षक देव उनका लौकिक और भौतिक मगल करने में समर्थ हैं। जैन देवमण्डल में विभिन्न यक्ष-यक्षियों, विद्यादेवियों, क्षेत्रपालों आदि को जो स्थान मिला, उसका मुख्य लक्ष्य तो अपने अनुयायियों की श्रद्धा जैन-धर्म में बनए रखना ही था।

यही कारण था कि आठवीं-नौवीं शताब्दी में जैन आचार्यों ने अनेक तांत्रिक विधि-विधानों को जैन-साधना और पूजा-पद्धति का अंग बना दिया। यह सत्य है कि जैन साधना में तांत्रिक साधना की अनेक विधाएँ यथा मन्त्र, यन्त्र, जप, पूजा, ध्यान आदि क्रमिक रूप से विकसित होती रही है, किन्तु यह सब अपनी सहवर्ती परम्पराओं के प्रभाव का परिणाम थी, जिसे जैन धर्म के उपासकों की निष्ठा को जैन धर्म के बनाए रखने के लिए स्वीकार किया गया था।

संदर्भ-

१. पञ्चाशक, प्रका०- ऋषभदेव श्री, केशरीमलजी श्वे० संस्था, २/४४
२. ललितविस्तरा, हरिभद्र, प्रका०- ऋषभदेव, केशरीमल श्वेताम्बर संस्था, वी०नि०सं० २४६१, पृ० ५७-५८.
३. गुह्यसमाजतन्त्र, संपा०- विनयतोष भट्टाचार्य, प्रका०- ओरिएण्टल इंस्टिट्यूट, बरोदा, १९३१, ५/४०
५. सूत्रकृताङ्गसूत्र, संपा०- मधुकर मुनि, प्रका०- श्री आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर, १९८२, २/३/१८
६. उत्तराध्ययनसूत्र संपा०- साध्वी चन्दना, प्रका०- वीरायतन प्रकाशन आगरा १९७२, १५/७
७. दशवैकालिकसूत्र, संपा०- मधुकर मुनि, प्रका०- श्री आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर, १९८५, ८/५०
८. आचारांगसूत्र, संपा०- मधुकर मुनि, प्रका०- श्री आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर, १९८०, १२/६/१६३
९. स्थानांगसूत्र, संपा०- मधुकर मुनि, प्रका०- श्री आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर, १९८०, ६/४१.
१०. मरणसमाधि, पइण्णय सुत्ताइं, संपा०- पुण्यविजयजी, प्रका०- श्री महावीर जैन विद्यालय, बम्बई, १९८४
११. उत्तराध्ययनसूत्र, संपा०- साध्वी चन्दना, प्रका०- वीरायतन प्रकाशन, आगरा, १९२२, २३/७३
१२. निशीथभाष्य, संपा०- मुनि अमरचंदजी, प्रका०- सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा, १९८२, ४१५७
१३. आचारांगसूत्र, संपा०- मधुकर मुनि, प्रका०- श्री आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर, १९८०, २/१५/१३०-१३४
१४. उत्तराध्ययनसूत्र, संपा०- साध्वी चन्दना, प्रका०- वीरायतन प्रकाशन, आगरा, १९७२, ३२/१००
१५. प्रश्नव्याकरणसूत्र, संपा०- मुनि हस्तिमलजी, प्रका०- हस्तीमल सुराणा, पाली, १९५०, २/९/२

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org